॥ ओ३म् ॥

वेदप्रकाश

सम्पादक—विजयकुमार
फो० नं० २६२७९५

आदरी सहसम्पादक—ब्र० जगदीश विद्यार्थी
फो० नं० २२१३२८

यज्ञ सम्बन्धी कतिपय शङ्कायें एवं उनके उत्तर

★ श्री पं० वीरसेन वेदश्रमी, वेदविज्ञानाचार्य
प्रतिष्ठित स्नातक

(१) **शंका**—क्या सन्ध्या हवन आदि कर्मकांड के समय प्रत्येक मन्त्र के आदि और अन्त में ओम् लगाना चाहिये ?

उत्तर—यह शंका अनेक रूप में आर्यजनों के सम्मुख उपस्थित होती है जिसका प्रमुख कारण वैदिक-कर्मकाण्ड के ग्रन्थों के स्वाध्याय का अभाव, वैदिक-कर्मकाण्ड के ज्ञाता गुरुजनों से विद्या ग्रहण का अभाव एवं निम्न प्रमाणों का रहस्य न समझ कर उनका अयथार्थ प्रयोग है—

(अ) "ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा" (मनुस्मृति)

(आ) "ओमभ्यादाने"। (अष्टाध्यायी)

(इ) "प्रणवष्टे"। ,,

मनु का उक्त श्लोक प्रत्येक मन्त्र के आदि और अन्त में ओम् बोलने का आदेश देता है—ऐसा यदि हम मान लें, तो महर्षि स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने कर्मकाण्ड प्रतिपादक जो ग्रन्थ पंच-महायज्ञ विधि एवं संस्कार विधि लिखी हैं, उनमें कहीं भी इस प्रकार का आदेश नहीं किया है कि यह नियम सर्वत्र है कि मन्त्र के प्रारम्भ में और अन्त में ओम् बोला जावे। अपितु ओम् का प्रयोग मन्त्र के आदि में ही करके लिखा है।

पंच महायज्ञ विधि और संस्कार विधि ये दोनों ग्रन्थ प्रयोगात्मक रूप से लिखे गये हैं। इनमें मन्त्रों का प्रयोग किस प्रकार करना, कहाँ प्रारम्भ में ओम् बोलना, स्वाहा कहाँ कैसे प्रयोग करना, इदं न मम को भी कहाँ बोलना और कहाँ नहीं बोलना—यह सब प्रयोगात्मक रूप से लिख दिया है। अतः मनु में तथा महर्षि में विरोध प्रतीत होने पर यदि मनु की बात का स्वीकार कर लेते हैं तो उस दशा में यह मानना पड़ेगा कि इन ग्रन्थों के लिखने में बड़ी भारी त्रुटियाँ हो गई है और उसको सुधारने का हमें अधिकार मिल गया है। सम्भव है कोई कह दें कि महर्षि दयानन्द जी को मनु का श्लोक स्मरण न रहा होगा।

परन्तु ऐसे लोगों को ध्यान देना चाहिये कि हम अपनी अज्ञानता से महर्षि के पाठ में दोष देख रहे हैं। महर्षि हम सब से कहीं अधिक विद्वान् थे और कर्मकाण्ड के ज्ञाता भी थे। योगाभ्यास

के द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञावस्था को प्राप्त थे। उनमें स्मृतिभ्रम भी नहीं था। उन्होंने प्राचीन आर्ष मर्यादानुरूप, शास्त्रानुमोदित परम्परा के अनुसार ही इन ग्रन्थों की जैसी रचना की है वही ठीक है। भूल तो हमारी ही समझ में है। क्यों कि—

ब्रह्म का अर्थ है वेद। मनु का श्लोक वेद के अध्ययन और समाप्ति पर आदि एवं अन्त में ओम् के उच्चारण की व्यवस्था दे रहा है जैसा कि उसके समीप के अन्य श्लोकों से स्पष्ट है। जब कोई व्यक्ति वेद का पठन प्रारम्भ करे तो वह उस कार्य के प्रारम्भ में ओम् का उच्चारण करके करे और जब उस पठन की समाप्ति करे तब भी ओम् से ही करे। अर्थात् वेद के अध्ययनादि में प्रारम्भ के लिये भी ओम् बोलना चाहिये और समाप्ति के लिये भी। प्रारम्भ सूचक अथ शब्द भी है और समाप्ति के लिये इति का भी प्रयोग होता है। ये सब प्रयोग वेद में नहीं होंगे अपितु ओम् का ही प्रयोग सदा करना चाहिये। यह व्यवस्था सदा के लिये है। इसमें कोई भी विकल्प, अपवाद या प्रतिषेध आदि नहीं है। मनु के उपरोक्त श्लोक का यही अभिप्राय है, न कि प्रत्येक मन्त्र के आदि और अन्त में ओम् बोलना चाहिये, ऐसा आशय है।

वेद के अध्ययन या पाठ का आरम्भ और अंत एक मन्त्र से भी हो सकता है और अनेक मन्त्रों से भी हो सकता है। एक ही मन्त्र के पाठ या अध्ययन के अवसर पर उसी मन्त्र के प्रारम्भ में ओम् का उच्चारण करना होगा और कार्य की समाप्ति के प्रदर्शनार्थ मन्त्र के अन्त में भी ओम् बोलना होगा। यदि अनेक मन्त्रों का पाठ या अध्ययन एक काल में करना है तो जिस मन्त्र से पाठ या अध्ययन प्रारम्भ होगा उसके आदि में और जिस मन्त्र पर समाप्ति करनी होगी वहाँ मन्त्रान्त में ओम् का उच्चारण करके समाप्ति करनी होगी। शेष मध्य के मन्त्रों में कहीं भी ओम् का प्रयोग नहीं होगा। यही अभिप्राय—"ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्तेच सर्वदा" का है।

यही शास्त्रानुमोदित परिपाटी प्राचीन काल से सब वेद एवं उनकी शाखाओं के अध्ययनाध्यापन, स्वाध्याय, पाठ आदि में प्रचलित है। किसी भी शाखा के वैदिकों में इसके प्रतिकूल व्यवहार नहीं है। परन्तु यह व्यवस्था कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्रों के लिये नहीं है, अपितु अध्ययन या पाठ विधि के लिये है। ऐसा स्पष्ट अभिप्राय मनु के उक्त वाक्य का समझ लेने पर न तो महर्षि के ग्रन्थों में एतद्विषयक दोष या अशुद्धि प्रतीत होगी और न सर्वशाखाओं में प्रचलित परिपाटी से ही भिन्नता दृष्टिगोचर होगी अपितु सब में सामञ्जस्य ही प्रतीत होगा।

इसी प्रकार—"ओमभ्यादाने"—यह पाणिनी का सूत्र भी प्रत्येक मन्त्र में ओम् लगाने का प्रतिपादक नहीं है। सूत्र का इतना ही तात्पर्य है कि अभ्यादान अर्थात् वेद के सर्व प्रथम प्रारम्भ में ओम् का जो प्रयोग किया जावे वह प्लुतोदात्त हो। इससे भिन्न न हो। यह सूत्र प्लुत प्रकरण का है अतः प्लुत विधान करता है। अभ्यादान निमित्त ओम् प्लुत हो और उदात्त भी हो।

इस सूत्र का यह आशय नहीं है कि प्रत्येक मन्त्र के आरम्भ में ओम् का प्रयोग करना चाहिये और न ही इस सूत्र का यह अधिकार ही है। परन्तु भूल से कुछ लोगों ने इसे प्रत्येक मन्त्र के आदि में प्रयोग करने के लिये मान लिया। अभ्यादान का अर्थ सर्वप्रथम आरम्भ है। अतः इस सूत्र के जो भी उदाहरण दिये गये हैं वे वेदों के सर्व प्रथम मन्त्र ही दिये गये हैं, जिनसे वेदों का सर्व प्रथम आरम्भ होता है।

उपरोक्त दोनों स्थितियों को याज्ञवल्क्य शिक्षा का निम्न श्लोक भी स्पष्ट कर रहा है—

प्रणवं वाक्प्रयुंजीत व्याहृतिस्तदनन्तरम् ।
सावित्रीं चानुपूर्व्येण ततो वेदान् समारभेत् ॥

अर्थात् वेदाध्ययन प्रारम्भ करने पर पहले ओम् का उच्चारण करे, तदनन्तर व्याहृति पूर्वक गायत्री मन्त्र का उच्चारण करे। यह प्रणव

उच्चारण कैसा हो तथा व्याहृति का उच्चारण कैसा हो इस बारे में याज्ञवल्क्य शिक्षा में लिखा है—

प्रणवं तु प्लुतं कुर्यात् व्याहृतीर्मात्रिका विदुः ।।

अर्थात् प्रारम्भ में ओम् का प्लुतोच्चारण करना चाहिये और व्याहृतियों को एक-एक मात्रा विराम से उच्चारित करे। यह सब विधान अध्ययन विधि के हैं, कर्मकाण्ड के नहीं है।

इसी प्रकार "प्रणवष्टे" सूत्र का अर्थ यज्ञ के मन्त्रों के अन्त में जहाँ प्रणव उच्चारण का विधान किया जायगा वहाँ प्रणव की मन्त्र के साथ सन्धि किस प्रकार हो, कहाँ हो तथा वह प्लुत ही हो और प्लुतोदात्त न हो यह प्रतिपादित करता है। यह सूत्र यह नहीं प्रतिपादित करता है कि यज्ञ में प्रत्येक मन्त्र के अन्त में जैसे मन में आवे ओम् बोला जावे।

यदि किसी स्थल पर कर्मकाण्ड के ग्रन्थ, मन्त्र के अन्त में ओम् बोलने का विधान करेंगे तो वहाँ मन्त्र के टि संज्ञक भाग को प्रणव आदेश करना होगा। अर्थात् —"अपा७रेता७सि जिन्वत्योम्।" —या—"धियो यो नः प्रचोदयादोम्"—ऐसा प्रयोग नहीं करना होगा। अपितु टि संज्ञक भाग को ओम् होगा जिससे—"अपा७रेता७सि जिन्वतो३म्"— एवं—धियो यो नः प्रचोदयो३म् ऐसा प्रयोग करना पड़ेगा।

व्याकरण के सूत्र व्याकरण के नियमों का बोध करावेंगे और कर्मकाण्ड के ग्रन्थ कर्मकाण्ड का बोध करावेंगे, न कि व्याकरण का। अतः इस सूत्र के ठीक-ठीक अर्थ एवं अधिकार को न समझने से भ्रान्तिवश प्रत्येक मन्त्र के अन्त में ओम् लगाने के इस आधार पर कहीं-कहीं जो परिपाटी प्रचलित हो गई है वह भ्रान्ति वश ही है। कर्मकाण्ड में मन्त्रों का प्रयोग पृथक् विषय है। उसके लिए कल्प ग्रन्थों को देखना चाहिए। केवल व्याकरण की दृष्टि ही से कर्मकाण्ड को समझा नहीं जा सकता है।

ओम् के प्रयोग करने के निमित्त महर्षि कात्यायन ने सर्वानुक्रमणिका में लिखा है—

"ब्रह्मारम्भे विरामे च यागहोमादिषु शान्ति-पुष्टिकर्मसु चान्येष्वपि काम्यनैमित्तिकादिषु विनियोगोस्य।"

ब्रह्म अर्थात् वेद का आरम्भ और समाप्ति करने पर, यज्ञ, होम, शान्ति, पुष्टि, काम्य एवं नैमित्तिक कर्मों में ओम् का प्रयोग किया जाता है। परन्तु यहां इन यज्ञ यागादि, शान्तिपुष्टि, काम्य एवं नैमित्तिक कर्मों में कहाँ, कैसे प्रयोग होगा इसके लिए महर्षि कात्यायन की सूत्र मन्त्र प्रकाशिका में निम्न वाक्य है—

कर्मणामादिर्मन्त्रादौ प्रणवः स्मृतः।

कर्म के आदि में जितने मन्त्रों से कर्म करना हो उसके प्रारम्भ के मन्त्र में, मन्त्र के पूर्व ओम् को संयुक्त करना चाहिए। अर्थात् कर्मकाण्ड में ओम् का प्रयोग कर्म के आदि का सूचक है। अतः जब तक कर्म समाप्त न हो और दूसरे का प्रारम्भ न हो, तब तक जितने भी मन्त्र उस एक कर्म में प्रयुक्त होंगे, उनमें पुनः ओम् प्रत्येक मन्त्र के प्रारम्भ में नहीं लगेगा। इसी प्रकार संस्कार रत्न माला में भी लिखा है—

त्रिमात्रः प्रणवो वाच्यः कर्मारंभे च सर्वदा।

अर्थात् कर्म के आरम्भ में सदा प्लुत ओम् का उच्चारण करना चाहिए।

इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि वेद का आरंभ सूचित करने के लिये, वेदाध्ययन या मन्त्र पाठ का आरम्भ सूचित करने के लिये, होम कार्य के आरम्भ करने के लिये, कर्मकाण्ड में किसी कार्य के प्रारम्भ करने के लिये, जो मन्त्र प्रारम्भ का होगा, केवल उसके प्रारम्भ के मन्त्र में ओम् का उच्चारण होगा। यज्ञ, यागादि में मन्त्र-मन्त्र से आहुति कर्म प्रारम्भ होता है अतः वहां प्रत्येक मन्त्र में ओ३म् का उच्चारण होगा। यही व्यवस्था एवं परिपाटी सर्वत्र याज्ञिकों में दृष्टिगोचर होगी।

यही परिपाटी महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के रचे कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। यदि एक कर्म एक मन्त्र से होगा तो उसके प्रारम्भ में ओम् का उच्चारण होगा। यदि एक कर्म दो या अधिक मन्त्रों से होगा तो उस मन्त्र समूह के प्रथम मन्त्र में ही ओ३म् का प्रयोग होगा, शेष मन्त्रों में नहीं। यदि वेद में पठित एक मन्त्र के विभागों से पृथक्-पृथक् कर्म होंगे तो उन सब मन्त्र विभागों के आदि में ओ३म् का प्रयोग होगा। वेद में पठित कोई एक मन्त्र कर्मकाण्ड में भी वैसा ही पूर्ण प्रयुक्त हो यह आवश्यक नहीं है। कर्मकाण्ड की दृष्टि से उसमें विभाग भी हो सकेंगे और जिसका जितना भाग कर्मकाण्ड में आवश्यक होगा उतना ही ग्रहण किया जायगा। ऐसे मन्त्र भाग कर्मकाण्ड में अपूर्ण मन्त्र नहीं माने जाते हैं, अपितु उनकी गणना पृथक्-पृथक् मन्त्रवत् ही होती है। कर्मकाण्ड के एक मन्त्र में किसी अन्य मन्त्र का भाग जोड़ कर भी क्रिया हो सकती है और वहाँ गणना में वह एक ही मन्त्र माना जावेगा, पृथक् नहीं।

कर्म के आदि में ओम् के प्रयोग के उदाहरण—

(१) अघमर्षण कर्म सन्ध्या में है। उसमें तीन मन्त्रों से यह एक कर्म सम्पादन होता है अत: महर्षि ने—ओम् ऋतञ्च सत्यञ्च॰—प्रारम्भ के इसी मन्त्र में ओम् का प्रयोग किया है। शेष दोनों मन्त्रों में नहीं किया है क्योंकि अघमर्षण कर्म का प्रारम्भ इसी मन्त्र से है। यही परिपाटी अन्य सम्प्रदायों की सन्ध्या में भी अघर्षण के मन्त्रों में है। परन्तु वेद की परम्परा तथा शास्त्रों के आदेशों को न समझने से जो लोग अघर्षण के प्रत्येक मन्त्र में ओम् का उच्चारण या प्रयोग करते हैं, वह अयुक्त ही है।

(२) मनसा परिक्रमा सन्ध्या में एक कर्म है जो ६ मन्त्रों से होता है। महर्षि ने उसके प्रारम्भ के मन्त्र में ओम् का प्रयोग किया है, शेष मन्त्रों में नहीं। यही वास्तविक प्राचीन परम्परा है और शास्त्रानुकूल भी है। परन्तु इस बात को न समझ कर लोगों ने मनसापरिक्रमा के सब मन्त्रों के आदि में ओम् बोलना प्रारम्भ कर दिया और सन्ध्यादि की पुस्तकों में छाप भी दिया।

(३) इसी प्रकार शालाकर्म में गृह की परिक्रमा के चार मन्त्र महर्षि ने लिखे हैं उनमें जो प्रथम मन्त्र है उसी के आदि में ओम् का प्रयोग किया है, शेष में नहीं। क्योंकि परिक्रमा कर्म एक है उसकी समाप्ति पर जब तक दूसरा कर्म प्रारंभ न हो तब तक ओम् का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं।

(४) सन्ध्या में महर्षि ने चार मन्त्रों से उपस्थान कर्म लिखा है। उसके प्रथम मन्त्र में ओम् का प्रयोग किया है, शेष तीन में नहीं। परन्तु हमने प्राचीन व्यवस्था को न जान कर प्रेस की भूल समझ कर प्रत्येक मन्त्र में ओम् छाप कर और बोल कर अशास्त्रीय कार्य प्रारम्भ कर दिया है।

(५) इसी प्रकार गर्भाधान संस्कार में भी जिन ५ मन्त्रों से उपस्थान करने को महर्षि ने लिखा है, वे मन्त्र सन्ध्या के उपस्थान मन्त्रों से भिन्न ही हैं। परन्तु उनमें भी जो प्रथम मन्त्र है, उसी में महर्षि ने ओम् का प्रयोग किया है, शेष मन्त्रो में नहीं यह उदाहरण भी इसी बात की पुष्टि करता है कि उपस्थान एक कर्म है। अतएव उस कर्म के आदि मन्त्र में ही ओम् लगाना उचित है। प्रत्येक मन्त्रके आदि में नहीं। यदि लोग यह समझ जाते कि कर्म के आदि के मन्त्र में ओम् का प्रयोग होता है न कि प्रत्येक मन्त्र के आदि में, तो मनमानी परम्परायें न चल पातीं और महर्षि ने जैसा प्रयोग किया है वैसा ही प्रचलित रहता।

(६) प्रातःकालीन और सायंकालीन दैनिक अग्नि होत्र के जो पृथक्-पृथक् ८ मन्त्र कर्मकाण्डमें प्रयुक्त हैं। उनमें प्रत्येक मन्त्र में ओम् का प्रयोग होता है, जब कि वेद में कुल दो मन्त्रो के अन्तर्गत उनका समावेश है। उसी में से एक मन्त्र के ही

कुछ भाग को प्रातः उच्चारित करते हैं तथा कुछ अंश को सायंकाल में। वेद के उन दो मन्त्रों के ८ विभागों से पृथक्-पृथक् क्रिया करते हैं। अतः स्पष्ट है कि —"कर्मणामादि मन्त्रादौ प्रणवः स्मृतः" महर्षि दयानन्द जी सरस्वती भी इसका पूर्णरूप से अनुसरण करते हैं।

(७) इसी आधार पर ईश्वरस्तुति प्रार्थनोपासना के ८ मन्त्रों के प्रारम्भ में महर्षि ने केवल प्रथम मन्त्र में ही ओम् का प्रयोग किया है। क्योंकि यह एक कर्म है। इसी आधार पर स्वस्तिवाचनादि के प्रारम्भ के ही मन्त्र में ओम् का प्रयोग सर्वत्र सब साम्प्रदाय एवं वेद शाखा वाले वैदिक करते हैं, न कि प्रत्येक मन्त्र के आदि में। बिना गुरु के वेदादि अपठित व्यक्तियों के द्वारा पठन करने से या स्वयं पुस्तक लेकर पढ़ने से या दूसरों के अनुकरण मात्र से अध्ययन करने से जो अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं, उनको त्यागना ही चाहिये।

सम्भव है कि किन्हीं को शंका उत्पन्न हो जावे कि स्वस्तिवाचन एवं शान्तिप्रकरण के प्रारम्भ के मन्त्रों में महर्षि ने ओम् का प्रयोग नहीं किया तो वहाँ ओम् का उच्चारण नहीं करना। परन्तु ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। वेद में कर्म के प्रारम्भ में ओम् का प्रयोग होता है और लोक में अथ का। अतः "अथ स्वस्तिवाचनम्—अथ शान्तिप्रकरणम्"—पद प्रकट करते हैं कि इन प्रकरणों के प्रारम्भ के मन्त्रों में जो वैदिक प्रयोग प्रारम्भ के लिए ओम् होता है, वह व्यवहार में लाना चाहिए।

मन्त्र के अन्त में ओम् का प्रयोग—

(१) वेद पाठ या अध्ययनक को विराम देने या समाप्त करने पर भी ओम् का प्रयोग होता है, जैसा कि—"ब्रह्मारम्भे अवसाने च" एवं —"ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा"—में विधान है।

(२) श्रौत यज्ञों में हविर्मन्त्र तथा पत्नी संयाज आहुतियों के मन्त्रों से पूर्व पुरोवाक्या मन्त्र पढ़े जाते हैं। उनसे आहुति नहीं होती। उन पुरोनुवाक्या मन्त्रों के अन्त में ओम् का उच्चारण करना होता है। परन्तु उन में ओम् स्वाहा ऐसा नहीं होता है। "आपाꣳरेताꣳसि जिन्वतो३म्" उसी स्थल का उदाहरण है, न कि हविर्मन्त्रों का। अतः पुरोनुवाक्या मन्त्रों के अन्त में ओम् का प्रयोग होगा। सर्वत्र यज्ञ मन्त्रों में नहीं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक मन्त्र के अन्त में ओम् या ओम् स्वाहा का प्रयोग अशास्त्रीय होने से त्याज्य है। पुरोनुवाक्या ओम् का प्रयोग श्रौतयज्ञों में होता है। उसका विधान पूर्व महर्षियों ने अपने ग्रन्थों में किया है।

महर्षि दयानन्द जी ने भी मन्त्र के अन्त में स्वाहा का ही प्रयोग किया है और मन्त्र के अन्त में ओम् स्वाहा का प्रयोग करने का विधान नहीं किया है। यथा—

(१) पंचमहायज्ञ विधि में—"अधिक होम करने की जहाँ तक इच्छा हो वहाँ तक स्वाहा अन्त में पढ़कर गायत्री मन्त्र से होम करे।"

(२) ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका—"अधिक होम करने की इच्छा हो तो 'स्वाहा' शब्द अन्त में पढ़ कर गायत्री मन्त्र से करे।"

(३) संस्कार विधि—गर्भाधान प्रकरण—"विष्णुर्योनिं० इत्यादि सात मन्त्रों के अन्त में स्वाहा शब्द का उच्चारण करके"।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि मन्त्रान्त में 'स्वाहा' का ही प्रयोग करे, न कि—'ओम् स्वहा' का। ऋषिमहर्षियों की विधि के प्रतिकूल होने से ओम् स्वाहा मन्त्रान्त में प्रयोग नहीं करना चाहिये।

यज्ञों में ओम् का प्रयोग—

(१) यज्ञों में प्रयुक्त जितने मन्त्र भाग, मन्त्र या मन्त्र समूह से एक क्रिया होगी उसके प्रारम्भ

में—ओम् का प्रयोग होगा। स्वाहा क्रिया प्रत्येक मन्त्र के पृथक् कर्म का द्योतक है; अतः यज्ञ में सभी मन्त्रों के आदि में ओम् का प्रायः प्रयोग आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार आहुति कर्म के मन्त्रों में ओम् का प्रयोग संस्कार विधि में प्रमुखरूप से सामान्य यज्ञों में दृष्टिगोचर होता ही है। यज्ञ में एक कर्म में अनेक मन्त्रों का प्रयोग समिधादान के मन्त्रों में तथा विवाह संस्कार में वधू के मस्तक पर जल छिड़कने की क्रिया के अवसर पर है। वहाँ पर प्रारम्भ के मन्त्र में ओम् है। सब मन्त्रों में नहीं। यही संगत भी है। एक ही कर्म में यदि वेद एवं वेदातिरिक्त ब्राह्मण मन्त्रों का प्रयोग होगा तो उन दोनों प्रकार के मन्त्रों के आदि में भी ओम् का प्रयोग होता है।

(२) यज्ञ में वेद के किसी सूक्त विशेष की आहुतियाँ होने पर या इसी प्रकार एक ही मन्त्र के विभागों से होम होने पर या अन्य विशेष स्थिति होने पर प्रत्येक मन्त्र या मन्त्र विभाग पर ओम् का प्रयोग नहीं भी किया जाता है। जैसा कि महर्षि कात्यायन ने छन्दोग परिशिष्ट में लिखा है—

"नों कुर्याद्धोममन्त्राणां पृथगादिपुकुत्रचित्" अर्थात् किन्हीं स्थल विशेष में होम समय में भी पृथक्-पृथक् प्रत्येक मन्त्र के आदि में ओंकार का उच्चारण नहीं किया जाता है। कहाँ नहीं होगा इसका ज्ञान तो कर्मकाण्डों का अवलोकन करने से होगा। संस्कार विधि में भी इसके अनुसार प्रयोग मिलते हैं। उदाहरणार्थ—

[अ] गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्ण वेध, विवाह, शालाकर्म आदि यज्ञों में कतिपय आहुति मन्त्रों एवं कर्मों के आदि में ओम् का प्रयोग नहीं किया गया है।

[आ] वानप्रस्थ संस्कार के यज्ञ में स्थालीपाक की ४३ आहुतियाँ जिन मन्त्रों से करना लिखा है वे सब ४३ आहुति मन्त्र वेद के ४ मन्त्रों से निर्मित हैं उनमें से केवल ३ मन्त्रों के प्रारम्भ में जहाँ से वेद का पूर्ण मन्त्र प्रारम्भ होता है उस के ही आदि में ओम् का प्रयोग महर्षि ने किया है। शेष मन्त्र विभागों में नहीं किया है और चौथे मन्त्र के प्रारम्भ में भी ओम् का प्रयोग नहीं किया है। ऐसे प्रयोग शास्त्रीय दृष्टि से त्रुटिपूर्ण नहीं है, अपितु ठीक ही हैं।

[इ] संन्यास संस्कार के यज्ञ में अथर्व के १९ वें काण्ड के ४२ वें एवं ४३ वें सूक्त का क्रमशः आहुति में प्रयोग हुआ है और उन दोनों सूक्तों का एकीकरण करके प्रयोग हुआ है। परन्तु वहाँ पर केवल सूक्त के प्रारम्भ में ही ओम् का प्रयोग हुआ है सर्वत्र नहीं। इसी प्रकार उनके आगे भी १५ भात की आहुतियों में प्रथम और ग्यारहवें मन्त्र में ओम् प्रयुक्त किया है शेष में नहीं। यह सब प्रेस की भूल या प्रमादवश नहीं है, अपितु यक्तियुक्त है। जैसा महर्षि ने उचित समझा प्रयोग लिख दिया है। अनुसरण करना हमारा कार्य है। जैसा पूर्व लिखा है कि कहीं-कहीं यज्ञ में सूक्त के आदि में ही ओम् का प्रयोग होता है शेष मन्त्रों में नहीं, इसका यह स्पष्ट उदाहरण है।

[ई] अन्त्येष्टि में भी केवल प्रथम पाँच मन्त्रों में ओम् का प्रयोग है, शेष मन्त्रों में नहीं है। यह सब—"नों कुर्याद्धोममन्त्राणां पृथगादिषु कुत्रचित्" —इस शास्त्रीय विधान के अनुकूल ही है।—इसी प्रकार से संस्कार रत्नमाला में भी—"श्रौते श्राद्धे च मन्त्रादौ प्रणवोऽपि नहीष्यते" के द्वारा क्वचित् स्थलों पर मन्त्र के आदि में भी ओम् के उच्चारण की अनावश्यकता प्रकट की है। अतः स्थल विशेष पर यज्ञ के मन्त्रों के आदि में भी ओम् का प्रयोग नहीं किया जाता है यह भी मानना चाहिए।

(२) शंका—समिधादान क्रिया में दो मन्त्रों से एक समिधादान करना संगत नहीं है। एक मन्त्र से एक समिधा दान होना चाहिए और दूसरे मन्त्र से दूसरी समिधा। या यहाँ एक ही मन्त्र

होना चाहिये था, दो नहीं। जब दो मन्त्रों के मध्य स्वाहा का भी प्रयोग है तो स्पष्ट है कि वहाँ आहुति समिधा की भी होनी चाहिये। नहीं तो दो मन्त्रों के मध्य स्वाहा का उच्चारण न करके दोनों मन्त्रों के अन्त में एक ही स्वाहा का प्रयोग करना चाहिए तब संगत हो सकेगा।

उत्तर—यह शङ्का एक ऐसी पुरानी है कि इसका समाधान लोगों को यही प्रतीत हुआ है कि केवल ३ ही मन्त्र समिधा दान के होने चाहिये। अतः किन्हीं ने एक मन्त्र कम कर दिया। किन्हीं ने ४ मन्त्रों से ४ समिधा दान का विधान कर दिया और किन्हीं ने दोनों मन्त्रों के मध्य का स्वाहा एवं इद न मम का भाग लुप्त करके दोनों मन्त्रों के पश्चात् ही स्वाहा का प्रयोग प्रचलित कर दिया। इस प्रकार अनेक रूप में इसके समाधान व्यवहार में प्रचलित हो गये।

वास्तव में महर्षि के दोनों कर्मकाण्ड के ग्रन्थों को देखने से अनेक प्रकार के कर्मकाण्ड सम्बन्धी रहस्यों का पता लगता है। यह भी याज्ञिक शैली है कि दो या अधिक मन्त्रों के प्रयोग में मन्त्रान्त में स्वाहा का प्रयोग किया जावे और यह भी याज्ञिक शैली है कि दोनों मन्त्रों में स्वाहा का प्रयोग हो और केवल एक ही आहुति हो। ऐसे प्रयोग द्वन्द्वाहुति मन्त्र कहलाते हैं। बृहदारण्यकोक्त श्रीमन्थकर्म में संस्रव की ३० आहुतियाँ होती हैं। उनमें प्रथम ६ आहुतियाँ द्वन्द्व संज्ञक हैं। उनमें मन्त्रों के प्रथम भाग में स्वाहा पर आहुति दी जाती है, अन्त के स्वाहा पर नहीं। पीछे का भाग मन्त्र समाप्ति सूचक ग्राह्य किया जाता है। वहाँ मन्त्र निम्न प्रकार हैं:—

ओम् ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा। इदं ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय न मम। इसी प्रकार ६ मन्त्र द्वन्द्वाहुति के हैं। इन मन्त्रों में १२ स्वाहा हैं परन्तु कुल ६ बार ही ओम् और ६ बार ही आहुति का विधान है। अतः संस्कार विधि में भी समिधादान में प्रतीयमान दो मन्त्र इस कर्म में एक मन्त्रवत् दो स्वाहा से युक्त होकर द्वन्द्वाहुति के परिचायक हैं।

क्यों कि तीन ही आश्रमों में यज्ञ होता है। प्रथम समिधा प्रथम आश्रम की प्रतीक है। ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी स्वयं समिधा रूप से एकाकी ही समिद्ध हो रहा है। दूसरी समिधा द्वितीय आश्रम गृहस्थ की प्रतीक है। जहाँ सब कार्य द्वन्द्वात्मक रूप से, स्त्री और पुरुष दोनों एक ही कर्म को सम्पन्न करते हैं। अतः दो मन्त्रों के संयोग से एक क्रिया सम्पन्न करने की प्रतीकरूप एक ही समिधा की आहुति है। तीसरी समिधा वानप्रस्थाश्रम की प्रतीक है। उसमें भी एकाकी जीवन है। अतः प्रथम और तीसरी समिधा का एक ही मन्त्र है। इस प्रकार जीवन की क्रिया के साथ समिधादान की क्रिया सङ्गत है। इसी का प्रतीक समिधादान का प्रतीक है।

इस दृष्टि से तथा प्राचीन कर्मकाण्ड की परिपाटी के अनुरूप व्यवहार प्राप्त होने से दो मन्त्रों से एक समिधादान का प्रयोग जिस रीति से महर्षि ने किया है वह पूर्ण संगत है। इसमें किसी संशोधन, परिवर्त्तन करने की आवश्यकता नहीं है। जो लोग अपनी अल्पज्ञता के कारण ऋषि के ग्रन्थों में जहाँ तहाँ अपूर्णता देखते हैं वहाँ वास्तव में ऋषि की अपूर्णता नहीं है अपितु हमारी ही अल्पज्ञता का कारण है।

(३) **शंका**—यज्ञ में पत्नी का स्थान वाम भाग में हो या दक्षिण भाग में? स्त्री को वामांगी कहते हैं इसलिए उसका स्थान वाम भाग में ही होना चाहिए। विवाह संस्कार के द्वारा स्त्री को वामाङ्गी बतलाया जाता है और उसको विवाह की पूर्व विधि होने पर वाम भाग में बैठाया जाता है। अतः पत्नी के वामाङ्गी बन जाने पर उसका यज्ञों में वाम भाग में ही स्थान होना चाहिये।

उत्तर—यज्ञ में पत्नी का स्थान पति के दक्षिण में ही है। यज्ञ का यह सामान्य नियम है कि पत्नी यज्ञ में दक्षिण भाग में ही बैठे जब तक कि वाम

में बैठने का कहीं विधान न किया हो। वामांगी नाम स्त्री का इसलिए नहीं है कि वह सदा वाम भाग में ही रखी जावे। यज्ञ की परिभाषा का यह शब्द नहीं है। न वेद का है। यह तो लौकिक साहित्य का है जिसका अर्थ है सुन्दर अङ्ग वाली। विवाह की किसी विधि में कहीं भी स्त्री को बाईं ओर बिठा कर उसे वामांगी बनाने का विधान कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ। यह तो मनमानी चाल वामांगी शब्द के कर्मकाण्ड विरुद्ध अर्थ को, कर्मकाण्ड में ही प्रधानता देने से हो रही है।

जो लोग वामभाग में बैठाने के पक्ष में हैं, वे अपने पक्ष में कहीं का भी प्रमाण नहीं उपस्थित कर सकते। जब इसके लिए कोई शास्त्रीय प्रमाण भी नहीं है तो यह अशास्त्रीय कर्म ही है। उनके इस पक्ष के प्रतिकूल यज्ञ में दक्षिण भाग में बैठाने के तो प्रमाण भी वेद एवं स्मृतियों के प्राप्त होते हैं, यथा—

ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त १२३, मं० १ के "दक्षिणायः" शब्द का भाष्य करते हुऐ श्री पं० जयदेव जी विद्यालङ्कार मीमांसा तीर्थ ने लिखा है—'यज्ञ में दायें भाग में विराजने वाली वधू का" इसी प्रकार स्मृति ग्रन्थों में —

श्राद्धे यज्ञे विवाहे च पत्नी दक्षिणतः सदा।
(ब्रह्मोक्त याज्ञवल्क्य स्मृति ६। ११)

कन्यादाने विवाहे च प्रतिष्ठा यज्ञकर्मणि।
सर्वेषु धर्मकार्येषु पत्नी दक्षिणतः स्मृता॥
(व्याघ्रपाद स्मृति ८४)

दक्षिणे वसति पत्नी हवने देवतार्चने।
शुश्रूषा रतिकाले च वामभागे प्रशस्यते॥८५॥
त्रिषु स्थानेषु सापत्नी वामभागे प्रशस्येत।
पादशौचे पितृणां च रथारोहे ऋतौ तथा॥८७॥
श्राद्धे पत्नी च वामांगे पादप्रक्षालने तथा।
नान्दी श्राद्धे च होमे च मधुपर्के च दक्षिणे॥८८॥
(व्याघ्रपाद स्मृति)

सर्वेषु धर्मकार्येषुपत्नी दक्षिणतो भवेत्।
अभिषेके विप्रपादक्षालने वामतः सदा॥८७॥
(संस्कार रत्नमाला)

इत्यादि अनेक ग्रन्थों में यज्ञ में सर्वत्र सामान्य रूप से पत्नी का दक्षिण ही स्थान उनको भी मान्य है जिनने वामांगी के रूप में स्त्रियों को वामांग माना है। स्त्री वामांगी कहाँ होती है ? कहाँ नहीं, इसके लिए उपरोक्त प्रमाण बहुत उत्तम है।

कुछ लोग उपरोक्त प्रमाणों को देखकर यह भी कह सकते हैं कि आर्ष ग्रन्थ का प्रमाण होना चाहिए। ऐसे लोगों से निवेदन है कि वेद का प्रमाण तो हमने पूर्व ही दे दिया है तथा महर्षि ने तो २-२॥ हजार ग्रन्थों को आर्ष माना है। वे किसी भी आर्ष या अनार्ष ग्रन्थ में से अपने पक्ष में प्रमाण उपस्थित करें। जब कोई ऐसा प्रमाण उनके पक्ष का है ही नहीं तो जो बात अपने को मान्य नहीं उसके प्रतिकूल जिसमें प्रमाण मिल जावे तो अनार्ष ग्रन्थ कह कर सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। सत्य जहाँ भी प्राप्त हो सत्य ही है। उससे मानना ही सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग का स्वरूप है। दर्शपौर्णमास आदि यज्ञों में दक्षिणाग्नि कुण्ड दक्षिण दिशा में बनाया जाता है जिसमें पाक क्रियादि पत्नी ही करती है। यह भी पत्नी की स्थिति दक्षिण में ही प्रकट करता है।

मनुस्मृति में निम्न श्लोक अ० २ का २३९ वाँ है :—

पिता वै गार्हपत्योऽग्निः माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नि त्रेता गरीयसी॥

यहाँ पिता को गार्हपत्य और माता को दक्षिणाग्नि कहा है। गार्हपत्य कुण्ड के दक्षिण भाग में ही दक्षिणाग्नि कुण्ड होता है अतः पुरुष के दक्षिण भाग में ही यज्ञादि में स्त्री का स्थान सभी ऋषि मुनि, सूत्र एवं कल्पकारों को प्राचीनकाल से मान्य है। यही हम सब को भी मान्य करना चाहिए।

जो लोग विवाह में वधू को वामांग में स्थान परिवर्तन करके बैठाते हैं वे विवाह की विधि का

उल्लंघन करते हैं। महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने अपनी विवाह पद्धति में कहीं भी वधू को वामभाग में बैठाने को नहीं लिखा है। विवाह की कुछ विधि वधू के घर में होती है जिसमें पूर्व विधि और उत्तर विधि है। दोनों विधियों में वधू को दक्षिण में ही बैठाने का विधान किया है। तत्पश्चात् वर के घर पर जाने पर भी जो यज्ञ की विधि होती है उसमें भी पत्नी को दक्षिण भाग में ही बैठाने को लिखा है। ऐसी अवस्था में विवाह में आसनों की फेराफारी एवं वामांगी करना व बताना अशास्त्रीय ही है। अतः पत्नी का स्थान यज्ञ में सदा दक्षिण में रहेगा जब तक कि किसी क्रिया विशेष के लिए या यज्ञ विशेष में पत्नी को वाम भाग में बैठाना न लिखा गया हो।

(४) **शंका**—क्या संन्यासियों को यज्ञादि कार्य कराना चाहिए? संन्यासी तो ज्ञान विज्ञान में तथा तपस्या से भी पवित्र होने से उनके द्वारा यज्ञ की शोभा भी बढ़ती है।

उत्तर—संन्यासी तभी बनता है जब कि वह इन कर्मकाण्डमय यज्ञों की बाह्य अग्नियों को त्यागकर अपने अन्दर उन अग्नियों की जागृति करके उनमें आहुति देने लगता है। वह तो उच्च पद को प्राप्त कर यदि उससे अवर कर्मों को करे तो उस की उन्नति ही क्या हुई? राष्ट्रपति बन कर यदि कोई जिलाधीश या नगरपालिका का अध्यक्ष बनने में अपना गौरव अनुभव करता है तो उसकी यह अयोग्यता ही है। जो व्यक्ति अग्नि को साक्षी करके, जल को साक्षी करके, वायु को और ब्रह्म को भी साक्षी करके इन बाह्य यज्ञों का त्याग करता है और फिर उसी में लिप्त रहता है वह तो अपने कर्त्तव्य से पतित होता है। संन्यासी बन कर कोई फिर गृहस्थ बनने की कामना करे उसी के तुल्य यह आश्रम विपरीत कर्म होगा।

ज्ञान विज्ञान में अग्रणी, तपस्वी वेदज्ञ ब्राह्मण गृहस्थ को ही यज्ञादि कराने का अधिकार है। ब्रह्मचारी और वानप्रस्थी यज्ञ के द्वारा अपनी साधना करते हैं अतः वे अपने यज्ञों को करने के अधिकारी हैं। परन्तु संन्यासी तो जब इस कर्मकाण्ड से मुक्त हो जाता है तो वह फिर इसमें लिप्त नहीं होता।

महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने संस्कार विधि के सन्यास प्रकरण में विधि भाग के प्रारम्भ में लिखा है कि जिसको संन्यास लेना है वह उत्तम गृहस्थ धार्मिक विद्वानों का वरण करके यह संस्कार करावे। यदि संन्यासी को यज्ञ कराने का कुछ भी अधिकार मान्य होता तो यह अवसर उसके लिए सब से उपयुक्त था। यहाँ पर यदि यह विधान न होता और संन्यासी का वरण करके यज्ञ कराने का विधान होता तो यह बात मान ली जा सकती थी कि किन्हीं विशेष स्थलों पर संन्यासी को ऋत्विग्वरण में लेना चाहिए। परन्तु ऐसा विधान नहीं। तो स्पष्ट ज्ञात हो गया कि संन्यासी को यज्ञ में ऋत्विज् नहीं बनाया जा सकता। ब्रह्मा भी ऋत्विज् ही है।

इसके अतिरिक्त महर्षि ने कतिपय संस्कारों में स्पष्ट लिखा है कि सपत्नीक ऋत्विजों को भोजन करावे। अर्थात् गृहस्थ ही ऋत्विज् ब्रह्मादि होंगे अन्य नहीं। पुरोहित की व्याख्या करते हुए महर्षि ने उसका एक विशेषण गृहस्थ भी लिखा है। अतः लोकैषणा या वित्तैषणावश जो संन्यासी यज्ञों के ऋत्विज् या ब्रह्मा बनने की कामना करते हैं वे अपने आश्रम कर्म से पतित ही होते है। उनको पतित करने में जो उनको ब्रह्मादि पद देकर सत्कृत करते हैं वे उसमें सहायक बनकर आश्रम भ्रष्ट करते हैं।

महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने संस्कार विधि में लिखा है कि ऐसे अवसर पर जो संन्यासी उपस्थित होते हैं उनका सत्कार गृहस्थों को अन्न, वस्त्र, आसन आदि दान से करना चाहिए। कहीं भी ऐसा नहीं लिखा कि उनसे यज्ञ करावे।

महर्षि स्वामी दयानन्दजी ने ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका में स्पष्ट लिखा है "किन्तु पूर्वेषां त्रयाणामे-

वाश्रमिणामनुष्ठातुं योग्यं यद्बाह्य क्रियामयमस्ति संन्यासिनां तन्न।" अर्थात् ब्रह्मचारी गृहस्थ एवं वानप्रस्थ आश्रम में जो यज्ञ बाह्यरूप के किये जाते हैं वे संन्यासी के लिये नहीं है।

इन यज्ञों के करने कराने की प्रेरणा का उपदेश तो वह करे परन्तु स्वयं न करे। उपदेश तो वह विवाह संस्कार का भी दे सकता है। वह भी अच्छा कर्म है परन्तु वह अच्छा होते हुए भी संन्यासी स्वयं विवाह कर ले या करावे वह ठीक नहीं है। परन्तु आज तो संन्यासीयों ने ही यज्ञ करने कराने का ठेका ले लिया है और उनमें से कतिपय तो प्रार्थना मंत्र और स्वस्ति वाचनादि भी शुद्ध नहीं बोल सकते, ऐसे संन्यासी बरसों से अपने भक्तों को भ्रम में डालकर वेद की हानि करके चारों वेदों के यज्ञों के भी ब्रह्मा बनने में किंचित् भी विचार नहीं करते। यह कार्य वेद के विद्वानों का है। उनसे ही कराना चाहिए, अन्यों से नहीं।

श्री पं० भगवद्दत्त जी रिसर्च स्कालर दिल्ली अपनी पुस्तक "भारतीय संस्कृति का इतिहास" के पृष्ठ १६१ पर वर्तमान स्थिति में वैदिक संस्कृति के प्रति निरुत्साहकर तथ्य-शीर्षक में लिखते हैः—

"यज्ञ की महिमा लुप्त प्राय है। अपितु बहुधा संन्यासी यज्ञ कराते और ब्रह्मचारी विवाह पढ़ाते देखे जाते हैं।

यज्ञ में मंत्र पाठ महाभ्रष्ट होता देखा जाता है अशुद्ध मंत्र-पाठ से लोग अपने को कृतार्थ मानते हैं।"

उपरोक्त शब्द मनन करने योग्य हैं। आज वेदों के स्वाध्याय के लुप्त होने का उपरोक्त भी कारण है। जिस प्रकार से महर्षि ने ऋत्विक् वरण में गृहस्थ विद्वानों को वरण करने का लिखा है उसी प्रकार अन्यत्र भी है। जैसा कि व्रतार्क में लिखा है—

"सपत्नीक स्वगुरुको भूषण से भूषित करे। मुख्य पुरोहित को ऋत्विज् करके उसी प्रकार चतुर्विशति गुण समन्वित समन्त्रित सपत्नीक ब्राह्मणों को ऋत्विज् बनावे।"—इसप्रकार गृहस्थ को ही यज्ञ करने का ऋत्विज्, पुरोहित, ब्रह्मादि बनने की पात्रता है, संन्यासी का नहीं।

वेद में भी इस प्रकार के मंत्र हैं जिनसे यही प्रकट होता है कि यह कार्य गृहस्थ का है तथा संन्यासी का नहीं हैः—

ये देवानां ऋत्विजो ये च यज्ञिया
येभ्यो हव्यं क्रियते भागधेयम्।
इमं यज्ञं सह पत्नी भिरेत्य यावन्तो
देवास्तविषामादयन्ताम्॥

—अथर्व० का० १६। सू० ५८। म० ६

विद्वानों में से जो विद्वान् ऋत्विक् अर्थात् यज्ञसम्पादक है और जो यज्ञ में पूजा के योग्य है और जिनके लिए विशेष अंश हवि रूप से तैयार किया जाता है वे जितने भी महान् विद्वान् पुरुष हैं वे अपनी पत्नियों के साथ इस यज्ञ में आकर तृप्त हों। अतः यह मंत्र गृहस्थ विद्वानों को ही ऋत्विज, पूरोहित, ब्रह्मा आदि यज्ञ कार्य में बनाने का उपदेश देता है।

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि यज्ञ कार्य के अवसर पर संन्यासी की आवश्यकता नहीं है। उसकी भी अत्यन्त आवश्यकता है। कर्मकाण्ड यज्ञ के अतिरिक्त समय में ज्ञान यज्ञ भी तो होना चाहिये। उपदेश, कथा, प्रवचन आदि ज्ञान यज्ञ ही हैं। इनका ब्रह्मा तो संन्यासी ही होना चाहिये। निम्न मंत्र यज्ञों में संन्यासी की उपस्थिति का प्रतिपादन करते हुए उनको यज्ञ में ऋत्विज् की पात्रता नहीं प्राप्त कराता हैः—

ये देवा देवानां यज्ञिया यज्ञियाना७ँ
संवत्सरीणमुप भागमासधे।
अहुतादो हविषो यज्ञे अस्मिन्त्स्वयं
पिबन्तु मधुनो घृतस्य॥

—यजु० अ० १७। म० १३

इस मन्त्र में आहुतादः शब्द बिना बाह्य यज्ञ किये जो भोजन ग्रहण करते हैं—उनके लिए प्रयुक्त हुआ है। यतः संन्यासी को ही यह अधिकार प्राप्त है अतः आहुतादः का अर्थ संन्यासी है। महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने इस मन्त्र के भावार्थ में लिखा है:—

"जो विद्वान् लोग इस संसार में अग्नि क्रिया से रहित अर्थात् आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि सम्बन्धी बाह्य कर्मों को छोड़कर आभ्यन्तर अग्नि को धारण करने वाले संन्यासी हैं वे होम को नहीं किये भोजन करते हुए सर्वत्र विचर के सब मनुष्यों को वेदार्थ का उपदेश किया करें।" अतः यज्ञ में उपदेश कार्य के लिये विद्वान् संन्यासियों को अवश्य बुलाना चाहिये और यज्ञ तो केवल गृहस्थ, धार्मिक, विद्वान्, परोपकारी, निर्व्यसनी, निर्लोभी, एवं सदाचारी से ही कराना चाहिये।

इसी प्रकार महर्षि स्वामी दयानन्दजी ने उदयपुर महाराणा को एक पत्र में लिखा है कि—"चारों वेदों के ब्राह्मणों का वरण कर होम होना चाहिये।" (पत्र सं० ४३६ स्वामी दयानन्द के के पत्र व्यवहार एवं विज्ञापन)—इससे भी यही ध्वनित होता है कि गृहस्थ ब्राह्मणों का ही यज्ञ में ऋत्विज् बनने का अधिकार है—संन्यासियों का नहीं।"

(५) **शंका**—आजकल यज्ञों में कर्मकाण्ड के मध्य में व्याख्यान भी दिये जाते हैं उससे यज्ञ की रोचकता बढ़ जाती है। यज्ञ में भाग लेने वाले ऊबते भी नहीं है और उनकी यज्ञके प्रति रुचि भी बढ़ती जाती है। आनन्द भी खूब आता है तथा विना अर्थ के मंत्रों का लाभ भी क्या?—क्या शास्त्रीय दृष्टि से भी यह ठीक है?—

उत्तर—सामान्य व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से यह ठीक प्रतीत होता है परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से यह सर्वथा विपरीत कर्म है। यज्ञ के समय तो परमात्मा का ही ध्यान, चिन्तन करते हुए कर्मकाण्ड में लगे रहना चाहिये। परन्तु इस समय व्याख्यानादि प्रमुखतः लोक रंजन आदि के लिये ही किये जाते हैं। अतः यज्ञ के समय इस प्रकार के व्याख्यानादि यज्ञ के लक्ष्य से तथा परमात्मा के ध्यान से चित्त को हटाकर लोक रंजन में ही वृत्तियों को प्रवृत्त करा देते हैं।

महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने संस्कार विधि की भूमिका में संस्कारों के मन्त्रों के अर्थ न लिखने के प्रसंग में लिखा है कि—"यहाँ तो केवल क्रिया करानी ही मुख्य है जिसे करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त हो सकते हैं और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं। इसलिए संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है।" इससे प्रतीत होता है कि महर्षि संस्कारों को या कर्मकाण्डों को क्रियाप्रधान ही मानते हैं, जो कि क्रियायें उन-उन यज्ञों में संस्कारों के अवसर पर करना लिखी हैं न कि व्याख्याओं को। व्याख्या या भाष्य के लिए उन्होंने लिखा है कि—

"जो (अर्थ) देखना चाहें वे वहाँ (वेद भाष्य) से देख लेवें।"—

परन्तु आजकल यज्ञों के कर्मकाण्ड भाग को तो कम कर देने एवं व्याख्यान भाग को बढ़ाने की प्रथा चल दी है, वह महर्षि की दृष्टि से ठीक नहीं प्रतीत होती। यज्ञ या संस्कार के बाद उसका व्याख्यान या उस पर प्रवचन हो यह तो उचित है। परन्तु कर्मकाण्ड के समय कर्मकाण्ड की ही प्रधानता रखनी चाहिए। इसी प्रकार सामान्य प्रकरण के अन्त में भी लिखा है कि—"कर्म कराने वाले शान्ति धीरज और विचार पूर्वक क्रम से कर्म करें और करावें"—यहाँ पर भी कर्म का ही उल्लेख है न कि व्याख्यानादि का। अतः यज्ञ में कर्मकाण्ड के समय कर्मकाण्ड ही कराना चाहिए और उसके पश्चात् प्रवचनादि करते हुए यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्रों का अर्थ भी समझाना चाहिये।

यज्ञ के मध्य में इस प्रकार बोलने का निषेध

है तथा इस प्रकार बोलने से दोष होता है ऐसा शास्त्रों में विधान है जैसा कि—दर्शपूर्णमास पद्धति में—

"न मानुषीं प्राकृतां वाचमुच्चारयेदपितु प्रयोजनवतीयल्पाक्षरां संस्कृत वाचमेव सत्यवसरे वदेत्। मध्ये भ्रमादिना मानुष्या वाच उच्चारणे ब्रह्मा ऽध्वर्युश्च ओं उरुविष्णो० इति वैष्णव मन्त्रं जपेत्।"

इस प्रकार यज्ञ कर्म के लिए प्रेरणा देने आदि के अतिरिक्त अन्य मानुषी लोक भाषा के शब्दों का प्रयोग न करने का ही विधान किया है। यदि लोक भाषा का प्रयोग भ्रम से या असावधानी से हो जावे तो उरुविष्णो० मन्त्र के जप पूर्वक प्रायश्चित करे।—इस वाक्य से स्पष्ट है कि यज्ञों के मध्य में जो व्याख्यान देने की प्रथा चल गई है वह बिल्कुल त्याज्य है। तथा इसका निषेध तो है ही, परन्तु दोष भी हो जाता है और उसका परिहार कार्य भी करना पड़ता है।

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में—

"सह यदिवं पुरा मानुषीं वाच व्याहरेत् तत्रो वैष्णवीमृचं व यजुर्वा जपेत्।......तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिः।"

अर्थात् यदि यज्ञ में मानुषी वाणी का उच्चारण करे तो वैष्णव मन्त्र को जपे—उसका यह प्रायश्चित्त है।—ये वाक्य भी स्पष्ट रूप से यज्ञ में कर्मकाण्ड के समय अपने व्याख्यानादि का निषेध ही करते हैं।

मन्त्र व्याख्यानों का लाभ है अतः उनको भी अपने स्थान पर यज्ञ के बाद करना चाहिये परन्तु कर्मकाण्ड यज्ञ को व्याख्यान यज्ञ नहीं बना देना चाहिये। जिनको वेदादिका और कर्मकाण्ड का अभ्यास नहीं है वे अपना पाण्डित्य व्याख्यानों को रोचक बनाकर जनता को बताने एवं प्रभावित करने के लिए करते हैं। यह यज्ञ का उद्देश्य नहीं है। ऐसे व्यक्ति कर्मकाण्ड को धर्मार्थ काम मोक्ष-रूप संस्कार से रहित करके, मनोविनोद करके संस्कार हीन बना देते हैं।

गोभिल गृह्यसूत्र में लिखा है—"ऋतेभगया वाचा अशुचिः"—अर्थात् वेद वाणी के अतिरिक्त अन्यवाणी का यज्ञ में प्रयोग करने से अपवित्रता होती है—अतः यज्ञों में अपनी वाणी का व्याख्यान भजनादि द्वारा विविध प्रकार का प्रयोग करके यज्ञ को अपवित्र एवं भ्रष्ट नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार अन्य सूत्रग्रन्थों में भी निषेध है।

(६) **शंका**—संस्कार या यज्ञादि के अन्त में शान्ति पाठ करना चाहिये या नहीं?

उत्तर—जब कोई कर्म किया जाता है तो उसके पूर्व से ही स्वस्ति एवं शान्ति की भी इच्छा होती है अतः स्वस्ति एवं शान्ति निमित्त महर्षि ने स्वस्तिवाचन एवं शान्ति प्रकरण के मन्त्रों को बोलने को लिखा है तथा किन्हीं विशेष स्थानों पर स्वस्तिवाचन एवं शान्ति करण के मन्त्रों तथा केवल मात्र स्वस्तिवाचन के मन्त्रों को अन्त में बोलने को लिखा है और वामदेव्य गान के लिये सामान्य प्रकरण में ही गर्भाधानादि से लेकर संन्यास संस्कार पर्यन्त करने को लिखा है। इसके अतिरिक्त सब के अन्त में संस्कारानुसार आशीर्वचन बोलने को लिखा है। विवाह संस्कार के अन्त में तो महर्षि ने लिखा है कि "वधू, वर एवं पिता आचार्य और पुरोहित से कहें कि—"स्वस्तिभवन्तो ब्रुवन्तु"—अर्थात् आप लोग स्वस्ति वाचन करें।" स्वस्ति वाचन का पाठ हुए पश्चात् कार्यार्थ आये हुए स्त्री पुरुष सब—"ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति"—इस वाक्य को बोलें ऐसा महर्षि ने लिखा है। कहीं भी "द्यौः शान्ति०" केवल इस मन्त्र का यज्ञों के अन्त में बोलने का विधान नहीं किया है। यह प्रचलन सामान्य व्यक्तियों ने स्वेच्छा से प्रचलित कर दिया है। अतः यदि यज्ञों में शान्ति पाठ "द्यौः शान्ति" से न किया जावे तो यज्ञ की अपूर्णता किसी प्रकार से नहीं है। वह पूर्ण ही है।

वर्त्तमान समय में इसे अत्यावश्यक अंग मान लिया गया है। परन्तु जो कर्मकाण्ड के ज्ञाता हैं और जिसने शास्त्रों को देखा है उनको इसमें आपत्ति इसलिए हो जाती है कि यदि सामान्य जनता अपनी परम्पराओं को प्रचलित रखने में ही सन्तुष्ट है और अपनी भावनानुसार ही यज्ञों का विधान बनाने लगेगी तो शास्त्र की आज्ञाओं और विधियों का उल्लंघन होने लगेगा और मर्यादा नहीं रहेगी।

महर्षि ने महावामदेव्यगान को प्रत्येक संस्कार में अन्त में करने को जो लिखा है वही वास्तव में समाप्ति का शान्ति पाठ है। गोभिल गृह्यसूत्र में लिखा है कि:—"अपवृत्ते कर्मणि वामदेव्य गानं शान्त्यर्थं शान्त्यर्थं शान्त्यर्थम्।" अर्थात् कर्म को समाप्ति पर शान्ति के निमित्त वामदेव्य गान करना चाहिये। महर्षि ने शास्त्रानुमोदित परिपाटी को ही प्रचचित करने का हमारे लिए आदेश दिया है। पर हमने उसकी उपेक्षा की।

महर्षि स्वामी दयानन्द जी के ग्रन्थों के अन्त में, पूना के उनके व्याख्यानों के अन्त में कहीं भी द्यौः शान्ति० मन्त्र से शान्ति पाठ की अनिवार्यता या उसके न होने से अपूर्णता का भाव नहीं प्रकट होता। प्रत्युत सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि एवं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में तो ग्रन्थ प्रारम्भ के ही मन्त्र के साथ "ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः" का प्रयोग किया है। सत्यार्थ प्रकाश के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ में महर्षि ने ओं शान्तिः ३ का प्रयोग भी नहीं किया है। ऐसी अवस्था में यदि कभी कोई विद्वान् इस बात पर ध्यान आकृष्ट करें कि यज्ञ के अन्त में शान्ति पाठ अनिवार्य नहीं है तो वह अयुक्त नहीं है। चूंकि हमने अपने व्यवहार में प्रत्येक कर्म की समाप्ति पर "द्यौः शान्तिः" मन्त्र से शान्ति पाठ को इतना अपना लिया है अतः उसके न करने पर एक न्यूनता सी प्रतीत होने लगती है। विधान की दृष्टि से वह वैधानिक नहीं है। परन्तु इस कार्य को असङ्गत भी नहीं कह सकते हैं। "द्यौः शान्तिः०" मन्त्र का कार्य समाप्ति के शान्ति पाठ के रूप में विनियोग सङ्गत प्रकार है। सभा आदिस्थलों में समाप्ति पर करना चाहें तो करें। यज्ञादि में भी प्रयोग अन्त में करना चाहें तो कर सकते हैं परन्तु महावामदेव्यगानादि की उपेक्षा पूर्वक नहीं।